

## हिंदी नाट्यालोचन की परंपरा व भारतेंदु हरिश्चंद्र की रंगदृष्टि

दीपक

शोधार्थी: पीएच.डी. हिंदी, हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, महेंद्रगढ़, हरियाणा, भारत।

### प्रस्तावना

भारतेंदु हरिश्चंद्र के 'नाटक अथवा दृश्यकाव्य' निबंध के कुछ अंश 'कविवचन सुधा' में सन् 1872 में 'नाटक' शीर्षक से प्रकाशित हो चुके थे। लेकिन इस निबंध का पूर्ण प्रकाशन सन् 1883 में हुआ। मधुरेश ने अपनी पुस्तक 'हिंदी आलोचना का विकास' में लिखा है कि "आलोचना उन विधाओं में से है जो पश्चिम साहित्य की नकल पर नहीं अपने साहित्य को समझने-बूझने और उसकी उपादेयता पर विचार करने की आवश्यकता के कारण जन्मी और विकसित हुई। 'वहाँ होता है इसलिए यहाँ भी होना चाहिए' इस विचार की भावना के वशीभूत होकर भारतेंदु ने नाटक पर विचार प्रकट नहीं किये हैं। हिंदी नाटक का स्वरूप कैसा होना चाहिए इसका ध्यान रखकर उन्होंने विचार प्रकट किए हैं।" सन् 1883 में भारतेंदु ने पहली बार हिंदी में नाटक, अभिनय और प्रदर्शन पर विस्तार से चर्चा की। मुलतः उनके इस निबंध को हम सैद्धांतिक निबंध ही मान सकते हैं। अपने समय के नाटककारों को उपदेशात्मक भाषा में वे कहते हैं "ग्रंथकर्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्र की बातचीत रचना करे कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी ही उसकी बात भी रचित हो।... पात्र की बात सुनकर उसके स्वभाव का परिचय ही नाटक का प्रधान अंग है। नाटक में वाक् प्रपंच एक प्रधान दोष है।... नाटक में वाचालता की अपेक्षा मितभाषिता के साथ वाग्मिता का ही सम्यक् आदर होता है। नाटक में प्रपंच रूप से किसी भाव को व्यक्त करने का नाम गौण उपाय है और कौशल विशेष द्वारा थोड़ी बात में गुरुत्तर भाव व्यक्त करने का नाम मुख्योपाय है। थोड़ी-सी बात में गुरुत्तर भाव की अवतारणा ही नाटक जीवन का महोपध है।"<sup>2</sup>

यहाँ भारतेंदु का आशय सारगर्भित भाषा अथवा संवाद-योजना से है। नाटक में वाक्य अथवा रखते समय इस बात की तरफ ध्यान रखना चाहिए कि शब्दों की फिजूल खर्ची न हो। व्यर्थ की लफ्फाजी यहाँ मान्य नहीं। इससे इतना तो अनुमान लगाया ही जा सकता है कि भारतेंदु अपने समय में होने वाले नाटकों व नाट्य-प्रदर्शनों के प्रति अत्यंत सचेत थे। निश्चय ही उस समय के नाटकों में ऐसा दोष प्रायः मिलता रहा होगा, इसीलिए उन्हें ऐसा कहना पड़ा। भारतेंदु ने नाटक से जुड़े अन्य तत्त्वों पर यथा- वेशभूषा, भाषा, विदूषक इत्यादि पर भी चर्चा की है। इससे पता चलता है कि वे नाटक व रंगमंच से कितने जुड़े थे। एक स्थान पर वे लिखते हैं कि "वेश और वाणी दोनों ही पात्रों की योग्यतानुसार होनी चाहिए। यदि भृत्य प्रवेश करें तो जैसे बहुमूल्य परिच्छद उस के हेतु अस्वाभाविक हैं वैसे ही पण्डितों के सम्भाषण की भाँति विशेष संस्कृत गर्भित भाषा भी उस के लिये अस्वाभाविकी है। महामुनि भरताचार्य पात्र स्वभावानुकूल भाषण रखने का वर्णन अत्यंत सविस्तार कर गये हैं, यद्यपि उनके नांदी रचनादि विषय के नियम तो सर्वथा शिरोधार्य हैं।"<sup>3</sup>

इसी प्रकार नाटक में विदूषक के संबंध में भी वे अपने विचार व्यक्त करते हैं। विदूषक को मनमाने ढंग से नाटक में जहाँ-तहाँ प्रकट कर देने के वे पक्ष में नहीं हैं। यहाँ तक कि वे वीर और करुण रस प्रधान नाटकों में उसकी उपादेयता को ही नकार देते हैं। उनके

अनुसार "...विदूषक का प्रवेश किस स्थान में योग्य है इसका विचार लोग नहीं करते। बहुत से नाटक लेखकों का सिद्धांत है कि अथ इति की भाँति विदूषक की नाटक में सहज आवश्यकता है। किंतु यह एक भ्रम मात्र है। वीर वा करुण रस प्रधान नाटक में विदूषक का प्रयोजन नहीं रहता। शृंगार की पुष्टि के हेतु विदूषक का प्रयोजन होता है सो भी सब स्थल में नहीं, क्योंकि किसी-किसी अवसर पर विदूषक के बदले विट, चेट, पीठमर्द, नर्मसखा प्रभृति का प्रवेश विशेष स्वाभाविक होता है।"<sup>4</sup> संस्कृत नाटकों की तर्ज पर जहाँ-तहाँ विदूषक का प्रयोग निश्चित तौर पर हिंदी नाटक में ज़रूरी नहीं था।

संस्कृत नाटकों के प्रभाव से हिंदी नाटककार अपने को मुक्त नहीं कर पा रहे थे। इस अंधानुकरण से ही बचने की सलाह भारतेंदु ने अपने निबंध में दी है। उनके अनुसार "अब नटकादि दृश्य काव्य में अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य मण्डली को नितांत अरुचिकर है, इसलिए स्वाभाविक रचना ही इस काल के सभ्य गण की हृदय ग्रहाणी है, इस से अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना उचित नहीं है।... संस्कृत नाटक की भाँति हिंदी नाटक में इनका अनुसंधान करना, वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिंदी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा सम्पादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।"<sup>5</sup> फिर ऐसे में कवि अथवा नाटककार को क्या करना चाहिए। इस संबंध में भारतेंदु कहते हैं कि "वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है इससे संप्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटकादि दृश्यकाव्य लिखना युक्ति संगत बोध नहीं होता।"<sup>6</sup> अर्थात् नाटक रचना देशकाल व परिस्थितियों को ध्यान में रखकर करनी चाहिए न कि अपने पूर्ववर्ति का अनुकरण करके।

वस्तुतः भारतेंदु एक नाटककार थे। अतः उन्होंने नाटक संबंधी जो विचार व्यक्त किए हैं, वे समीक्षक या आलोचक की हैसियत से नहीं। किंतु फिर भी हम हिंदी आलोचना का आरंभ भारतेंदु से मान सकते हैं। हिंदी के नाटकों का स्वरूप कैसा होना चाहिए इस पर उन्होंने अपने विचार प्रकट किए।

विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार "भारतेंदु ने नाटक पर विचार करते समय उसकी प्रकृति, समसामयिक जनरुचि एवं प्राचीन नाट्यशास्त्र की उपयोगिता पर विचार किया है। उन्होंने बदली हुई जनरुचि के अनुसार नाट्यरचना में परिवर्तन करने पर विशेष बल दिया है।"<sup>7</sup> इतना ही नहीं अपने आलेख में उन्होंने भारतीय व पाश्चात्य नाट्य रूपों को आधार बनाते हुए नाटक के तत्त्वों, भाषा, भाषा-सुधार, कथावस्तु, लोकरुचि तक सभी विषयों को अपनी आलोचना में समाहित किया।

प्रसिद्ध नाट्यकर्मी और आलोचक देवेन्द्रराज अंकुर भारतेंदु के इस दीर्घ निबंधका, उसकी त्रिआयामिता का महत्त्व बताते हुए ठीक ही लिखा है कि "भरत के बाद भारतेंदु ही पहले ऐसे व्यक्ति के रूप में सामने आते हैं जो स्वयं ही सिद्धांतकार भी हो, रचनाकार भी हो, और प्रयोक्ता भी हो।"<sup>8</sup> यहाँ हम कह सकते हैं कि भारतेंदु ने

हरिश्चंद्र न केवल अपने नाटकों के द्वारा अपितु अपने आलोचना कर्म द्वारा भी हिंदी साहित्य के विकास को गति प्रदान की।

### संदर्भ सूची

1. मधुरेश, हिंदी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2012, पृष्ठ: 17-18
2. संपादक: महेश आनंद, रंगदस्तावेज: सौ साल, भाग: 1, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2007, पृष्ठ: 59
3. वही, पृष्ठ: 61
4. वही, पृष्ठ: 61
5. वही, पृष्ठ: 52
6. वही, पृष्ठ: 52
7. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिंदी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण: 1982, पृष्ठ: 19
8. मधुरेश, हिंदी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2012, पृष्ठ: 17-18